Original Research Paper | Arts | Volume : 07 | Issue : 01 | January 2022 | e-ISSN : 2456-5040

भारतीय संगीत में रागों की परिकल्पना

डॉ. महेश चंद्र पाण्डे

एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत विभाग, एम.बी.राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय हल्द्वानी (नैनीताल)

ABSTRACT

प्राचीन काल में संगीत उपासना का मार्ग था, मोक्ष–प्राप्ति का सुगम साधन था। संगीत की साधना एक कठोर तपस्या के रूप में है, फिर भी यह अलौकिक सुख प्रदान करती है। यह जनरञ्जन होने के साथ–साथ भवभंजन भी है, परन्तु ऐतिहासिक एवं अन्यान्य कारणों से संगीत की मुक्तिदायिनी साधना का स्वरूप क्रमशः तिरोहित होता गया और जनरंजन पक्ष की प्रधानता होती गई। फलतः संगीत आज केवल मनोरंजन एवं धनोपार्जन का साधन मात्र बनकर रह गया है। संगीत का प्रभाव जड़ और चेतन दोनों पर ही पड़ता है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है और इसके पीछे भी संगीत में निहित वह रसानन्द की भूमिका स्पष्टतः परिलक्षित होती है। जैसा कि रस की परिभाषा में उद्धृत है, उसके अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से पोषित स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। संगीत में स्वर, राग, ताल, बंदिशें, समय, ऋतु, जहाँ रसानन्द की प्राप्ति में भरपूर मदद करते हैं वहीं रागाभाव के अनुकूल काव्य, शैली, बंदिशों के गढ़ने एवं कहन, कलाकार का मुद्राभाव, मंच–सज्जा, वातावरण एवं कलाकार के व्यक्तित्व जैसे महत्वपूर्ण तत्वों की उपादेयता को भी नकारा नहीं जा सकता है। उपर्युक्त सभी तत्व, शास्त्र एवं क्रियात्मक दोनों ही दृष्टि से सौंदर्य, रस एवं आनन्द की अनुभूति के लिये महत्वपूर्ण हैं।

प्रस्तावना–

भारतीय संगीत में राग का एक विशिष्ट स्थान है। इतना ही महत्व इसे भारतीय दर्शन और साहित्य में भी दिया गया है। संगीत में नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर और स्वर से राग की उत्पत्ति मानी जाती है। मूलाधार नाद ही इस सृष्टि के उद्भव का मूल कारण है, क्योंकि परमात्मा का स्वरूप ही नाद–ब्रह्म है।श्रागश शब्द की उत्पत्ति रंग से हुई है, जिसका अर्थ है, रंग जाना, रंग से भर जाना, लाल हो जाना, चमकना, प्रभावित होना, प्रेरित रस या भाव के आवेश में बह जाना। इसीलिए संगीत में राग का अर्थ है, मन का रंग अर्थात् मनोभाव। संगीत रत्नाकर के टीकाकार ने राग की परिभाषा करते हुये राग को वह संगीत खंड बताया है, जो सप्त स्वरों, वर्णों अथवा ध्वनि के विभिन्न प्रकारों की उत्तमता के कारण प्रशंसा का आह्वान करता है।

संगीत दर्पण में कहा गया है–

गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते।

तद्वयानुगतं नृत्यं नादाधीनमतस्त्रयम् ।। 13।।

अर्थात् – सर्वगीत नादात्मक (नाद पर अवलंबित) हैं। वाद्य नाद उत्पन्नकर्ता होने से प्रशस्त है। नृत्य, गीत तथा वाद्य नाद के आधार से होता है। अतः ये तीनों कलायें नादाधीन मानी गई हैं।

यह सारा ब्रह्मांड ही विधाता की इच्छाशक्ति का अभिव्यक्त रूप है और नाद को ब्रह्म का स्वरूप माना गया है। अतएव अखिल विश्व को नाद के अधीन भी कहा गया है।

नादेन व्यञ्ज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद्वचः।

वचसो व्यवहारोऽयं, नादाधीनमतो जगत् ।।

अर्थात् – नाद के योग से वर्णों का उच्चारण होता है। वर्ण से पद (शब्द) की सिद्धि होती है, पद से भाषा होती है और भाषा के होने से ही जगत् के सब व्यवहार चलते हैं। इस प्रकार यह संपूर्ण जगत ही नाद के अधीन है।

संगीत रत्नाकर में पं. शारंगदेव का मत है कि नाद से वर्ण, वर्ण से शब्द, शब्द से वाक्य और वाक्यों से इस जगत् के व्यवहार व्यंजित होते हैं। अतः यह सारा जगत् नाद के अधीन है। आहत् और अनाहत् रूप से यह नाद पिंड में प्रकाशित होता है। भारतीय संगीत में ललित कला का ही रूप होने के कारण इसमें कला द्वारा प्राप्त आनन्द के लिये मूलतत्व एवं उसके स्वरूप की महत्ता पर विशेष बल दिया जाता है और नाद की महत्ता इस दृष्टि से अद्वितीय है। संगीत के लिये नाद रूपी समुद्र के अपार स्वरूप का वर्णन इस श्लोक के द्वारा व्यक्त होता है–

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती। अद्यापि मज्जनभयातुंबं वहति वक्षसि ।। 32 ।।

अर्थात् – नाद समुद्र का कोई आर–पार नहीं है, इसी कारण डूबने के भय से माँ सरस्वती भी तूंबा लिये हुये नाद सागर पार करती हैं। नाद सागर में डूब जाने के भय से ही माँ सरस्वती भी अपनी वीणा में तूंबा लगाये हुई हैं। जब उनकी यह दशा है तो सामान्य अकिंचन संगीत साधक की कौन कहे।

भारतीय संगीत में राग

राग, भारतीय संगीत का अभिन्न अंग है। इसे भारतीय संगीत की आत्मा के नाम से भी संबोधित किया जाता है। कुछ विद्वद्जन इसे "मेलॉडी" के पर्याय के रूप में स्थापित करते हैं।

'राग' शब्द 'रञ्ज' धातु से बना है, जिसका मुख्य अर्थ है 'रंगना'। चित्त का किसी वृत्ति–विशेष अथवा अवस्था विशेष में अधिष्ठान, यही रंगने का तात्पर्य होता है।

भारतीय संगीत में जिस जन–चित्त रञ्जक ध्वनि विशेष की प्रतिष्ठा है, उस ध्वनि विशेष के वाचक को राग कहते हैं। पाणिनीय व्याकरण में दो स्थलों पर 'रञ्ज रागे' रंगने के अर्थ में 'रञ्ज धातु' का प्रयोग बताया गया है। इसी धातु में भाववाचक संज्ञा, क्रिया या साधन के अर्थ 'घञ्' प्रत्यय जोड़ने पर राग की सिद्धि होती है। कहा भी गया है–"रञ्जयति इति रागः।"

संगीत शास्त्र में राग का दो अर्थों में प्रयोग हुआ है, एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य अर्थ में राग रंजकता का वाचक है और विशेष अर्थ में वह एक ऐसे नादमय व्यक्तित्व का द्योतक है, जो स्वर–देह और भाव–देह से समन्वित है तथा जो मन–मस्तिष्क को सुख अथवा आनन्द देने वाला है, उसे संगीत में रन्जक कहा जाता है। रूप या आकार के साथ रंग का अविच्छेद संबंध है। रूप अग्नि का गुण है। अतएव अनल और अनिल के योग से उत्पन्न नाद में स्वाभाविक रूप से राग या रञ्जकता निहित है।

'राग' के संबंध में प्रसिद्ध टीकाकार 'कल्लिनाथ' ने मतंग का मत उद्धृत करते हुये लिखा है–

स्वरवर्णविशिष्टेन ध्वनिभेदेन वा जनः। रज्यते येन कथितः स रागः सम्मतः सताम् ।।

Copyright© 2022, IEASRJ. This open-access article is published under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License which permits Share (copy and redistribute the material in any medium or format) and Adapt (remix, transform, and build upon the material) under the Attribution-NonCommercial terms.

अर्थात् – जिस स्वर–वर्ण–विशिष्ट ध्वनि–भेद से मनुष्य रंग जाता है, वह सत्पुरुषों के अनुसार राग है।

संगीत दर्पण के अनुसार :
योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः। रज्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ।।

अर्थात् स्वर और वर्ण से अलंकृत उस ध्वनि–विशेष को विद्वज्जन राग के नाम से संबोधित करते हैं जो जनचित्त को रंग देती है, आनन्दित करती है।

संगीत में उसी स्वर–समूह को राग कह सकते हैं, जिसमें रंगने की शक्ति हो, जिसका एक सबिशेष व्यक्तित्व हो। विद्वानों के अनुसार इस सविशेष व्यक्तित्व के दो पहलू है –एक स्वरमय, दूसरा भावमय। स्वरमय के अन्तर्गत स्वर–देह के अंगों का वर्णन सामने आता है। इन अंगों का विश्लेषण यह ढूँढ़ने का प्रयास है कि रंग देने की शक्ति किन तत्वों में निहित है। इस स्वर–देह के विश्लेषण के अन्तर्गत भरत ने दस जाति–लक्षण ही बताये हैं। जबकि राग का भावमय रूप राग गायन–वादन की क्रिया की संपूर्णता की ओर इंगित करता है, क्योंकि भाव से ही क्रिया संपन्न होती है, और उस क्रिया की संपूर्णता में ही रस का जन्म होता है, जो भारतीय संगीत में रागों की परिकल्पना के मूलतत्व में निहित है। वैसे तो भाव के स्मरण मात्र से ही रसोद्वेग प्रारम्भ होने लगता है। इसीलिए किसी भी अवस्था का अनुभव पहले तो भाव तक ही सीमित रहता है किन्तु जब वही संपूर्णता की ओर अग्रसर होने लगता है तो रसानुभूति से वह आनन्द की अनुभूति देने लगता है।

विद्वानो के अनुसार राग की व्याख्या

राग की परिभाषा करते हुए फॉक्स स्ट्रेंग्वेज ने लिखा है कि "राग स्वरों का एक अदृश्य बल्कि अधिकतम संभावित वैयक्तिकता की तरह का क्रम है, जो मेलॉडी बनाने वाले स्वरों के सामीप्य से या स्वरों की विविक्तता से, उस विशेष ढंग से जिसे साधारणतया उनका उच्चार किया जाता है, उसको आवृत्ति विशेष से या उसके विपरीत जिस गति से वह आवर्तित होता है, उसकी उपस्थिति से या अनुपस्थिति से और किसी अश्रव्य ध्वनि से संपुष्ट आधार–स्वर के संबंध से जाना जाता है।'

राग शब्द की व्याख्या करते हुये पॉप्ले ने लिखा है "राग, स्वराष्टक में आने वाले स्वरों का ऐसा क्रम है, जो सभी भारतीय गीतियों का आधार स्वरूप होता है तथा जो कुछ स्थिर स्वरों की प्रमुखता या विशेष स्वरों की क्रमिकता के द्वारा एक दूसरे से अलग गाया जाता है।"

वस्तुतः राग स्वराष्टक (ऑक्टेव Octave) के स्वरों का एक ऐसा गीत्यात्मक विधान है, जो एक निश्चित मनःस्थिति को व्यक्त करने के लिये बनाया जाता है।

स्वामी प्रज्ञानन्द के अनुसार "राग एक मनोभौतिकीय वस्तु है, क्योंकि वह मन के आत्मगत अनुभवों का वस्तुपरक प्रकाशन है। यह सर्वप्रथम मन में सर्वागपूर्ण निर्मित होता है, तब बाहर भौतिक स्वर–रूप में प्रक्षेपित किया जाता है। और इसी कारण किसी राग–रचना की प्रक्रिया में मन और भौतिक तत्व साथ–साथ कार्य करते हैं।

"राग" शब्द कब से अस्तित्व में आया, यह तो बता पाना कठिन है, फिर भी राग शब्द का प्रथम प्रयोग कालिदास द्वारा अपने नाटक "अभिज्ञानशाकुंतलम्" के प्रथम दृश्य के आमुख में किया गया है।

अहो राग निविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतोरंगः।

"तवास्मि गीत रागेण हारिणा प्रसभं हृतः। एष राजेव दुष्यंतः सारंगेणातिरंहसा।"

अभिज्ञानशाकुंतलम् 1.5

"अहा! राग के कारण तन्मय चित्त–वृत्ति वाले समस्त प्रेक्षक चित्र के समान अचल हो गये हैं। मैं भी तुम्हारे गीत के मनोहारी राग में बरबस ऐसे खिंचा चला जा रहा हूँ, जैसे अत्यंत वेग वाले सारंग (हरिण) के साथ राजा दुष्यंत।

कालिदास का काल ईसा के बाद चौथी शताब्दी माना जाता है। भारतीय संगीत पर प्रथम मान्य लेखक भरतमुनि ने राग का जिक्र नहीं किया। उनके काल में ग्राम–मूर्छना एवं जाति का ही अनुसरण किया जाता था। राग की प्रथम व्याख्या मतंग ने बृहद्देशी ग्रंथ में की है, जो ईसा के बाद छठी शताब्दी में लिखा गया माना जाता है।

इस प्रकार राग और रागिनियाँ केवल विशिष्ट परिभाषा के द्वारा ही ज्ञात नहीं है, बल्कि अपनी अभिव्यजंना और आह्वान की शैली पर भी उनका स्वरूप टिका हुआ है। संगीत दर्पण में दामोदर पंडित लिखते हैं–

शिवशक्तिसमायोगाद्रागाणां सम्भवो भवेत्।
पाञ्चास्यात् पञ्च रागाः स्युः षष्ठस्तु गिरिजामुखात्।।१।।

शिव तथा शक्ति इन दोनों के योग से राग उत्पन्न हुये। महादेवजी के पाँच मुखों से पाँच राग उत्पन्न हुये और छठा राग पार्वतीजी के मुख से निकला।

महादेवजी ने जब तांडव करना शुरू किया तब उनके सद्योवक्त्र नामक मुख से श्री राग निकला, वामदेव मुख से बसंत निकला, अघोर मुख से भैरव, तत्पुरुष मुख से पंचम और ईशान मुख से मेघराग तथा लास्य के प्रसंग में पार्वती जी के मुख से नटनारायण राग उत्पन्न हुआ।।

संगीत में राग और रस का अत्यन्त मधुर संबंध है। रस के बारे में काव्याशास्त्रियों ने विस्तृत चर्चा की है और सौंदर्य के क्षेत्र में रस की महत्ता का उल्लेख किया है। राग के रस से संबंध के संदर्भ में आगे रस–निष्पत्ति पर विचार करना युक्तिसंगत होगा। यहाँ संगीत के परिप्रेक्ष्य में रस का समन्वय, तत्वस्वरूप, आवश्यकता एवं महत्ता पर विचार प्रस्तुत है।

प्रत्येक कला में अभिव्यक्ति का कुछ–न–कुछ माध्यम अवश्य होता है। संगीत में अभिव्यक्ति का माध्यम ध्वनि है। ध्वनि के साथ काव्य का भी संयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है, तथापि बिना शब्द की सहायता से भी भाव और रस की निष्पत्ति हो जाती है जो विशेष रूप से वाद्य–संगीत में दृष्टिगोचर होता है। संगीत के मूलाधार नाद में ही ऐसी शक्ति है जो किसी भाव या रस की निष्पत्ति करा देती है। संगीत निश्चय ही शब्द से परे है।

आचार्य बृहस्पति के अनुसार "भाषा भले ही कभी–कभी मनोभावों की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ हो जाये, परन्तु नाद कभी भी असफल नहीं होता। जैसे कालिदास के मूल काव्य का आनन्द संस्कृत न पढ़ने व जानने वाला व्यक्ति नहीं ले सकता है, परन्तु नाद सौंदर्यजनित आनन्द का अनुभव हर व्यक्ति को होता है।"

प्रो. रामाश्रय झा के अनुसार "संगीत ही एकमात्र ऐसा विषय है, जिसके व्याकरण एवं तत्वों की जानकारी न रखने वाला व्यक्ति भी इसके किसी–न–किसी रूप से रसानन्दित होता है।

यह अटल सत्य है कि अन्य विषयों की तरह इसमें रसानन्द प्राप्ति में जटिलता नहीं है। संगीत किसी–न–किसी रूप में मानव मात्र को रसानन्द की अनुभूति कराता ही है। मानव मात्र की कौन कहे, इसके प्रभाव को जड़ चेतन, सजीव, पेड़–पौधे, पशु इत्यादि पर भी स्पष्ट देखा जाता है।

संगीत कला का ही रूप है और कला का सौंदर्य की अनुभूति एवं रसोद्रेक के लिये प्रयोग किया जाता है। यह जिस रूप में ग्रहण किया जाता है, उसका मूल तात्पर्य आनन्द तत्व की प्राप्ति ही है, क्योंकि कला में इस आनन्दवादी दृष्टि की प्रधानता का कारण भारतीय जीवन–दर्शन का प्रभाव है। भारतीय कला और विशेषकर संगीत कला की सर्वोत्कृष्ट विशेषता यह है कि इसका लक्ष्य आनन्दोपलब्धि है। भारतीय चिन्तन में आनन्द–तत्व का परम महत्व है–

"आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयान्त्यभिसंविशन्ति।।"

अर्थात् – आनन्द से ही यह जगत निर्मित है, आनन्द ही इसका जीवनदाता है, आनन्द की ओर ही इसकी गति उन्मुख है तथा आनन्द में ही इसका अन्तिम विलय है।

भारतीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में रागों के अतिरिक्त भी कई ऐसे तत्व हैं, जो रस–सृष्टि के लिए उत्तरदायी माने जाते हैं तथा आनन्दानुभूति में सहायता प्रदान करते हैं। प्राचीन काल से ही विद्वानों ने इन तत्वों की भूमिका पर गहन अध्ययन किया है।

आज विज्ञान का युग है और प्रत्येक सांगीतिक प्रस्तुति में वैज्ञानिक उपकरणों का भी प्रयोग आवश्यक अंग सा बन गया है। इन उपकरणों में ध्वनि विस्तारक यंत्र का समुचित प्रयोग रस–सृष्टि के लिये उपयोगी साबित होता है। क्योंकि जैसा संगीत और मनोविज्ञान के संदर्भ में कहा जाता है कि मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में सांगीतिक–रस–सृष्टि के लिये संगीत तत्वों की उपादेयता के अतिरिक्त प्रस्तुतकर्ता की उत्तम स्थिति, माध्यम की उत्तम स्थिति एवं ग्राह्यता की उत्तम स्थिति तीनों का होना परमावश्यक है। इस स्थिति में वैज्ञानिक यंत्रों की भी रस–सृष्टि में उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता है। ये सभी तत्व प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में संगीत में रसानन्द की उपलब्धि में सहायक होते हैं।

संगीत में स्वरों के संदर्भ में नाद शास्त्र में विभिन्न रसों के लिये उदात्त, स्वरित और कंपित स्वरों के प्रयोग का निर्देश मिलता है। हास्य, श्रृंगार के लिये स्वरित और उदात्त, वीर, रौद्र तथा अद्‌भुत के लिये उदात्त तथा कंपित, करुण, वात्सल्य, भयानक के लिये उदात्त, स्वरित और कंपित का प्रयोग मान्य है। विभिन्न रसों के स्वरों का उल्लेख भरतमुनि ने इस प्रकार किया है–

तत्र हास्यशृंगारयोः स्वरितोदात्तैः।वीर रौद्रादभुतेषु उदात्त कंपितैः।। करुणवात्सल्यभयानकेषुदात्त स्वरित। कम्पितैः वर्णेरुपयादयेत इति।।– नाट्यशास्त्र, 19.38–39

राग और रस

ललित कला में प्रमुख स्थान प्राप्त होने के कारण भारतीय संगीत में भी इसी धारणा की मान्यता है कि कला द्वारा प्राप्त आनन्द के लिये ही रस शब्द का प्रयोग भारतीय मनीषा की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है। विद्वानों ने वैसे ठीक ही कहा है कि "संगीत केवल कला ही नहीं" बल्कि मोक्ष प्राप्ति का एक सहज एवं अचूक मार्ग है।" तन्मयता की दृष्टि से संगीत जैसा प्रभावी अन्य कोई मार्ग नहीं है।

संगीत हो या कोई अन्य ललित कला या प्रकृति द्वारा निर्मित कोई भी सुन्दर चीज़, सौंदर्यानुभूति के साथ ही आनन्दानुभूति भी हमें प्राप्त होती है। आनन्द का ही दूसरा नाम रस है। वैसे भी कला और रस का अत्यन्त अटूट सम्बन्ध माना जाता है। क्योंकि रस अनिवार्यतः अनुभवजन्य है। चाहे संगीत कला हो या काव्य कला या चित्रकला, अनुभूति प्रधान रस को प्राचीन काल से विद्वानों ने अनेकानेक प्रकार से वर्णित किया है। संगीत में तो रस का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में रस ही संगीत का प्राण है। बिना रस के संगीत निष्प्राण जीव के समान होता है। इस अर्थ में रस एक विशेष प्रकार की चेतना है, मनुष्य के अंतःकरण की निधि है। इसीलिए विद्वानों ने कहा है– "रस्यते इति रसः।"

रस का सम्बन्ध भावना से भी होता है। अतएव यह भी कहा गया है– "यथा भावना तथा रसोत्पत्तिः।"

रसोत्पत्ति के लिये भावना आवश्यक होती है और संगीत में भावना स्वर से प्रकट होती है। स्वर, नाद द्वारा उत्पादित होता है, अतः सभी एक दूसरे के पूरक हैं। भाव–स्मरण रस का रूप लेता है, भाव और रस पर्याय नहीं है। अतः कहा गया है– "भावस्मरणं रसः।"

भाव सुखद अथवा दुःखद दोनों हो सकता है, परन्तु रस सदैव आनन्द रूप है। "रस" भारतीय वाङ्‌मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। सामान्य व्यवहार में इसका चार अर्थों में प्रयोग होता है–

1. पदार्थों का रस अम्ल, कषाय आदि,
2. आयुर्वेद का रस,
3. साहित्य का रस, और
4. मोक्ष या भक्ति का रस।

प्राकृक्तिक अर्थ में रस का अर्थ है पदार्थ को निचोड़कर निकाला गया द्रव, जिसमें किसी–न–किसी प्रकार का स्वाद होता है। आयुर्वेद में रस का अर्थ है पारद। पदार्थ रस जहाँ आस्वाद प्रधान है, वहाँ आयुर्वेद का रस शक्ति प्रधान है। साहित्य में रस का अर्थ है काव्य सौंदर्य और काव्यास्वाद जबकि मोक्षरस या आत्मरस ब्रह्मानन्द अथवा आत्मानन्द का वाचक है। रस के उपर्युक्त सभी अर्थों में आस्वाद का अन्तर्भाव तो स्पष्ट है, चाहे उसको ग्रहण करने का माध्यम कोई भी हो, ज्ञानेन्द्रिय रसना हो या सूक्ष्मेन्द्रिय मन हो, मस्तिष्क हो या आत्मा।

रस का विचार नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम नाट्य के प्रसंग में हुआ है। क्योंकि, रस के संपूर्ण विवेचन का आधार भरतमुनि का यह प्रसिद्ध सूत्र है–

"तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, 42, पृ. 93

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है–

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दो भवति।" (2.7)

वह रस रूप है। इसीलिए रस को पाकर मनुष्य आनन्दमग्न हो जाता है। आनन्द के सार के अर्थ में रस का प्रयोग हुआ है।

भारतीय कला में प्रकृति ही सौंदर्य का आदर्श अथवा प्रतिमान रही है, अतः कला के सौंदर्य निवेश में ही उसे आकर उत्स का महत्व मिला है। वैसे भारतीय कलाओं की एक विशिष्टता यह है कि वे प्रायः रसोपकारी और रसानुरूप हैं। उनमें सार्वत्रिक रूप से रस प्रक्रिया विद्यमान है। कलान्तर्गत रसानन्द की सारी विधि रस प्रक्रिया से पूर्णतः मेल खाती है। क्योंकि रस–प्रक्रिया में जब एक स्थायी भाव को विभाव, अनुभाव और अनेक व्यभिचारी भाव अर्पित होकर उषचित करते हैं, तब रस–निष्पत्ति होती है।

संदर्भ–सूची

1. संगीत दर्पण, पं. दामोदर, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. 9.
2. निबंध संगीत, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. 257.
3. द म्युजिक ऑफ हिन्दुस्तान – ए. एच. फॉक्स – स्ट्रेंग्वेज, 1914 क्लैरेंडन प्रेस आक्सफोर्ड ।
4. म्युजिक ऑफ इण्डिया, एच. ए. पोप्ले, कलकत्ता, पृ. 40.
5. हिस्टॉरिकल सर्वे ऑफ इण्डियन म्युजिक, स्वामी प्रज्ञानन्द, 1960, पृ. 20.
6. संगीत रत्नाकर, आचार्य शारंगदेव, पूना, 1987, पृ. 150.
7. संगीत दर्पण, पं. दामोदर, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. 73.
8. कला विवेचन, डॉ. कुमार विमल, भारतीय भवन, पटना, 1968, पृ. 120–121.
9. पद्‌माभः पिंजरः स्वर्णवर्णः कुन्दप्रभोऽसितः। पीतः कर्बुर इत्येषां जन्मभूमिमथो ब्रुवे।।86।
10. वहिवर्वेधा शशांकश्च लक्ष्मीकांतश्च नारदः । ऋषयो दद्दशुः पंच षड्‌जादींस्तुबरूर्धनी ।।88।। संगीत दर्पण, पं. दामोदर, पृ. 31–32